Chapter-1

प्रथम अध्याय

वीर रस सामाजिक संदर्भ और शास्त्रीय अनुशीलन

राष्ट्रीयता की भावना से अनुप्राणित किसी भी देश में बाह्य शक्तियों से रक्षा तथा राष्ट्रीय और सांस्कृतिक जीवन मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए बाह्य और आंतरिक संघर्ष होते रहते हैं. भारत की सांस्कृतिक परंपरा के अनुसार इसे पौराणिक भाषा में दैवी और आसुरी शक्तियों का संघर्ष कहा गया है. अत्यन्त प्राचीन काल से विदेशी राजशक्तियों के आक्रमण भी यहाँ होते रहे हैं और उन दीर्घकालीन आक्रमणों के बावजूद भी यहाँ की संस्कृति और सभ्यता आज तक अक्षुण्ण रही है. संभवतः इसी कारण भारत की सम्पूर्ण धरती आदि काल से ही वीरों की लीला स्थली रही है. पंजाब, महाराष्ट्र, बंगाल, उत्तर प्रदेश, बिहार आदि प्रदेशों के वीरों और वीर वनिताओं ने अपनी मातृभूमि की कीर्तिपताका को उन्नत रखने के लिए शतशः बलिदान दिये हैं. वीर पुरुषों के कार्य कलापों को चिरस्मरणीय बनाये रखने एवं उनके माध्यम से जन-जीवन में साहस, आत्म त्याग तथा वीरता की प्रेरणा देने के लिए उनका सतत यशोगान एवं मूल्यांकन सहायक होता है. काव्य इस चेतना को अधिक सशक्त एवं प्रभावशाली बना सकता है. अतः वीर काव्यों की उपयोगिता एवं महत्व स्वयं सिद्ध है.

भारतीय जीवन में वीरता का भाव वैदिक युग से ही प्रशस्त रहा है. वैदिक संस्कृत में " वीर " शब्द वीर या योद्धा [1] के अर्थ में व्यवहृत हुआ है. इसी अर्थ के आधार पर अमर कोशकार ने वीर शब्द को क्षत्रिय वर्ग के अन्तर्गत युद्धवीर के रूप में स्थान दिया है. [2] ऋग्वेद के भाष्यकार सायण ने वीर व्यक्ति को केवल " विक्रान्त " ही नहीं, अपितु कर्म में समर्थ [3] यज्ञादि अनुष्ठानों में दक्ष [4] एवं प्रेरक [5] भी कहा है. इससे यह अर्थ निकलता है कि अस्त्रशस्त्र संचालन में कुशल, युद्ध कला में निपुण, शौर्य से सम्पन्न, यज्ञ, दान तथा दया आदि कर्मों में दक्ष व्यक्ति को प्राचीन वाङ्मय में वीर कहा जाता था. मार्कण्डेये पुराण [6], रामायण, [7] महाभारत [8] में वीर शब्द युद्धवीर या सुभट के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है. वीर भोग्या वसुन्धरा की उक्ति भी वीरता के महत्व का द्योतन करती है ।

हिन्दी में भी वीर शब्द के अनेक पर्याय मिलते हैं.[9] वज्रयानी सिद्धों ने ऐसे नायक के लिए वीर शब्द का प्रयोग किया है, जिसकी व्याख्या " दोहा कोष " में इस प्रकार से मिलती है- " चित्त बज्र प्रज्ञोपाय योग से जो महाराग द्वारा विराग का दमन करता है, उसे वीर कहते हैं, वह मकरन्द पान करता है और महासुख चक्र में रमणी महामुद्रा नैरात्मा रूपी नायिका का उत्साहपूर्वक उपभोग करता है. "[10] दोहाकोशकार ने वीर शब्द का प्रयोग साधना में संलग्न व्यक्ति के लिए किया है. प्राचीन साहित्य में वीर शब्द का प्रयोग न केवल युद्ध में पराक्रम दिखाने वाले व्यक्ति के अर्थ में ही हुआ है अपितु धर्मवीर, दानवीर और दयावीर आदि से युक्त संदर्भों का भी यह द्योतक रहा है.

छन्द शास्त्र में वीर छन्द और वीर सवैया नाम से जो छन्द प्रचलित हैं वे संभवतः इसी कारण हैं कि उनमें वीर रस पूर्ण कविता सहज रूप में प्रस्तुत हो सकती है. हिन्दी साहित्य कोशकार ने इसे वीर मात्रिक समछन्द का भेद माना है जिसका आल्हछन्द नाम प्रसिद्ध है. " इस छन्द की लय का विकास लोक वीर गतियों से संबंध होना चाहिए, यही कारण है कि जगानिक " आल्हखण्ड " का लोक में इतना प्रचार हो सका. इसके प्रत्येक चरण में 16, 15 की यति से 31 मात्रा और अन्त में गुरु-लघु (ऽ।) रहता है. "[11] भानुजी ने इसे वीर छन्द या मात्रित सवैया कहा है.[12] यह छन्द वर्णनात्मक है और सभी प्रकार के वर्णों में प्रयुक्त हुआ है. पर वीर रस के ओजस्वी वर्णन इसमें अधिक मिलते हैं. आधुनिक काल में वीर सवैया की लोकप्रियता का कारण रामायण की कथा के लिए राधेश्याम कथावाचक द्वारा इसे अपनाया जाना है. श्याम नारायण पाण्डेय के वीर काव्यों में भी इसकी लय अपनायी गयी है तथा अन्य कई प्रबन्धकारों ने भी इस सवैया का प्रयोग किया है.

कौल साधना में तीन साधक या अधिकारी माने जाते हैं- दिव्य, वीर और पशु. वीर मध्यम कोटि का अधिकारी है. आत्मा या परमात्मा या जीव और ब्रह्म के अद्वैत का हलका सा आभास पाकर साधना मार्ग में उत्साहित हो जाने वाले तथा आयास पूर्वक मोह या माया के पाश को काट डालने वाले साधक को कौलमार्गी वीर की संज्ञा देते हैं. क्रमशः अद्वैत ज्ञान की ओर अग्रसर होता हुआ यह " वीर " साधक शिव के साथ अपनी एकात्मकता को शीघ्र ही पहचान जाता है. वीर भाव के साधक में सत्वगुण की अपेक्षा रजोगुण अधिक प्रबल होता है. [13]

सरदार पूर्णसिंह ने इससे भिन्न अर्थों में वीर पुरुषों की विशेषताएँ बताते हुए लिखा है -

" सत्वगुण के समुद्र में जिनका अन्तःकरण निमग्न हो जाता है वे ही महात्मा, साधु और वीर हैं. वे लोग अपने क्षुद्र जीवन का परित्याग कर ऐसा ईश्वरीय जीवन पाते हैं कि उनके लिए संसार के सब अगम्य मार्ग साफ हो जाते हैं. आकाश उनके ऊपर बादलों का छाता लगता है, प्रकृति उनके मनोहर माथे पर राजतिलक लगाती है. ---- सच्चे वीर अपने प्रेम के जोर से लोगों के दिलों को सदा के लिए बाँध देते हैं. फौज, तोप, बन्दूक आदि के बिना ही वे शहंशाहे जमाना होते हैं. [14] वीरता की अभिव्यक्ति कई प्रकार से होती है, कभी उसकी अभिव्यक्ति लड़ने मरने के में, खून बहाने में, तलवार तोप के सामने जान गंवाने में होती है, तो कभी जीवन के गूढ़ तत्व और सत्य की तलाश में बुद्ध जैसा राजा विरक्त होकर वीर कहे जा सकते हैं. वीरता एक प्रकार की अन्तःप्रेरणा है जब कभी इसका विकास होता है एक नवीनता छा जाती है जिसके दर्शन करते ही सबलोग चकित हो जाते हैं.

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि वीर महान होता है. उसके लिए यह जीवन क्षणभंगुर है. इसके विपरीत कायर व्यक्ति अपने जीवन को अमूल्य

और कभी न टूटने वाला अस्त्र समझता है. इस सम्बन्ध में एक कहावत प्रसिद्ध है कि जो गरजते हैं वो बरसते नहीं, कायर हमेशा बढ़ चढ़ कर बातें करेंगे परन्तु समय आने पर पीछे हट जायेंगे. वर्कशापों में मशीने बनती हैं परन्तु ये वीर किसी वर्कशाप (workshop) में नहीं बनते. जंगल में चीड़ और देवदार के वृक्षों की भाँति ये जीवन के अरण्य में स्वतः पैदा होते हैं, बिना किसी संरक्षण के विकसित होते हैं और अचानक ही संसार के समुख प्रकट हो जाते हैं. वीर कभी भी अपने अटल निश्चय से पीछे नहीं हटते. वे अपनी उपस्थिति से वैचारिक एवं व्यावहारिक क्रान्ति का मार्ग प्रशस्त करते हैं और इसी कारण कवियों एवं सामान्य जनों का ध्यान देवताओं क से हटकर इन वीरों एवं उनके कार्यों की ओर आकृष्ट होता है. कायरतापूर्ण जीवन यापन की अपेक्षा इन्हें मृत्यु का वरण अधिक प्रिय होता है. ये मानवता के उद्धारक तथा जन मानस के प्रेरणा स्त्रोत होते हैं. ऐसे ही पुरुष युग की चट्टानों पर अपने चरण चिह्न अंकित करते हैं. कवियों की वाणी ऐसे ही युग पुरुषों को अपने काव्य का नायक बनाकर कृतार्थ होती है. वीर काव्य के वास्तविक आलम्बन ये वीर ही होते हैं.

वीरों की कोटियाँ और वीर रस

वीरों की अनेक कोटियाँ हैं. यथा- युद्धवीर, दानवीर, धर्मवीर, दयावीर आदि. नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरतमुनि ने वीर रस के अंतर्गत ब्रह्मा द्वारा रचित तीन प्रकार के वीरों का उल्लेख किया है- दानवीर, धर्मवीर और युद्धवीर.[15] परन्तु आगे चलकर धनंजय ने इस विधान में परिवर्तन कर धर्मवीर के स्थान पर दयावीर की प्रतिष्ठा की.[16]

तात्विक दृष्टि से दया में उन सभी व्यापक तत्वों और उदात्त कर्मों का अन्तर्भाव नहीं हो पाता, जो धर्म में सन्निहित है. उदाहरण के लिए दया से भरे कर्मकाण्ड धर्मान्तर्गत आ जाते हैं परन्तु जीवन की उदात्तता के अनेक

पक्ष, आध्यात्मिक दिव्यता, दया के अन्तर्गत नहीं, धर्म के ही अंतर्गत आते हैं. अतः धर्मवीर का भावजगत और कार्यक्षेत्र दयावीर के भावजगत और कर्मक्षेत्र से अधिक व्यापक है इसी कारण पंडित विश्वनाथ ने अपने समन्वयवादी प्रयत्न से भरतमुनि और धनंजय के दान, धर्म और युद्धवीरों को मिलाकर वीर रस को चतुर्विध कर दिया है-

" दान धर्म युद्धैदर्याच समन्वितश्चतुर्धास्यात । " [17]

इन चारों भेदों में सबका स्थायी भाव तो उत्साह ही है परन्तु उनके आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव और संचारी पृथक-पृथक हैं. आचार्य विश्वनाथ की तरह पंडितराज जगन्नाथ ने भी यही चार भेद माने हैं. [18] साहित्य शास्त्रियों ने काव्य में क्षमावीर के स्वतंत्र रूप में स्थित होने पर ध्यान नहीं दिया है. जैसे दया उत्साह के साथ मिलकर व्यक्त होती है वैसे ही क्षमा भी उत्साह के साथ मिलकर आ सकती है. वीरता की अनेक प्रवृत्तियों या भावों का रूप धीरोदात्त नायक में दिखाई देता है और उन बताये गये गुणों में एक गुण क्षमा भी है. [19] साधु महात्माओं में ज्ञान के साथ मौन, शक्ति के साथ क्षमा और त्याग के साथ दूसरों की प्रशंसा आदि गुण होते हैं. इनकी क्षमाशीलता के गुण को देखकर यह नहीं समझना चाहिए कि उनमें शक्ति नहीं है. उनके पीछे राजभक्ति भले ही न हो परन्तु स्वयं वे आत्मशक्ति के सम्पन्न होते हैं जिसके बल पर वे सबकुछ कर सकते हैं. शत्रु और मित्र सबको क्षमा करना साधुओं का आभूषण है. [20]

इस प्रकार वीर के अनेक भेदों- युद्धवीर, दानवीर, धर्मवीर, दयावीर की भांति क्षमावीर भी उसका एक भेद माना जा सकता है. क्षमा तभी क्षमा कहलाती है जब अत्याचारी को दण्ड देने की शक्ति होते हुए भी उसे छोड दिया जाय. इतिहास के पन्नों को पलटने पर पृथ्वीराज चौहान का उदाहरण मिलना दुर्लभ है जिसने गोरी को कितनी बार

क्षमा किया भले ही लोग उसे कितना ही अदूरदर्शी कहें परन्तु उस जैसा क्षमाशील कहाँ मिल सकता है ?

वियोगी हरि ने अपनी " वीर सतसई " में अनेक वीरों के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं. इन वीरों में सबसे महत्वपूर्ण युद्धवीर [21] माना है जिसे आघात पीड़ा तो क्या मौत की भी परवाह नहीं होती. वह युद्ध के मैदान में अपने प्राणों को हथेली पर लेकर लड़ता हैं. उसमें साहस एवं उत्साह का मणिकांचन योग होता हैं. वीरता केवल दूसरों पर प्रहार करने में ही परिलक्षित नहीं होती अपितु बिना हाथ-पैर हिलाये कठिन प्रहार का सहना भी वीरता है. युद्ध के अतिरिक्त भी अनेक कार्य वीरता से परिपूर्ण होते हैं. इस सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल का कथन है -

" युद्ध के अतिरिक्त संसार में और भी ऐसे विकट काम होते है जिनमें घोर शारीरिक कष्ट सहना पड़ता है और प्राण हानि तक की संभावना रहती हैं. अनुसंधान के लिए तुषार मंडित अभ्रभेदी अगम्य पर्वत की चढ़ाई, ध्रुव देश या सहारा के रेगिस्तान का सफर, क्रूर बर्बर जातियों के बीच अज्ञात घोर जंगलों में प्रवेश इत्यादि भी पूरी वीरता और पराक्रम के कर्म हैं. [22]

आचार्य शुक्ल ने वीरों की कोटि में एक और वीर रखा है जिसे कर्मवीर कहते हैं. कर्म में आनन्द अनुभव करने वालों ही का नाम कर्मण्य हैं. अत्याचार के दमन और क्लेश का शमन करते हुए चित्त में जो उल्लास और तुष्टि होती है वही लोकोपकारी कर्मवीर का सच्चा सुख है. उसके लिए सुख तब तक के लिए रुका नहीं रहता जब तक कि फल प्राप्त न हो जाये, बल्कि उस समय से थोड़ा-2 मिलने लगता है जब से वह कर्म की ओर हाथ बढ़ाता है. जिस वीर में उत्साह के साथ-2 बुद्धि भी कार्य करती है उस वीर को कर्मवीर कहना चाहिए. केवल उत्साह या साहस के बल बूते पर साहसी कहलाना कठिन है उसमें बुद्धि का भी योग होना आवश्यक है.

उत्साह के साथ जब बुद्धि मिल जाती है तो सफलता की प्राप्ति बहुत सरल हो जाती है. [23]

भारत के राजनैतिक क्षितिज पर सन् 1921 में महात्मा गांधी के आविर्भावसे उनकी जीवन चर्या, अहिंसक रीति-नीति एवं सत्याग्रह आंदोलन से प्रभावित होकर भारत के अनेक नागरिक अपने देश की स्वतंत्रता के लिए उनके चरण चिह्नों पर चलने के लिए प्रेरित हुए. भारतजननी की पराधीनता की शृंखलाएँ तोड़ने के लिए अग्रसर इन सत्याग्रही वीरों के उत्साह ने भारत के भावुक हृदयों को भावना की नवीन गति प्रदान की. बलिदानी गांधी और उनके दृढ़ अनुयायियों की उत्सर्ग गाथाएँ काव्य में साकार हो उठी. फलस्वरूप साहित्य में एक अभिनव वीर रस का प्रवेश हुआ. आचार्य ललिताप्रसाद सुकुल ने " काव्य शास्त्र " नामक अपने ग्रंथ में " पंचमांवेशिख " नाम से इस नयी प्रणाली का " साहिष्णु बलिदानी वीर " के अन्तर्गत इस प्रकार विवेचन किया है -

" यह प्राय: सभी कोटियों के सिद्ध संचारियों से मिलता जुलता हुआ भी भिन्न है और है अनोखा. इसका यह अनोखापन उसे प्राप्त हुआ है उसकी परम सात्त्विक चेतना में जिसमें न स्थान है प्रतिशोध के लिए, न परपीड़न के लिए, वरन् जिसका एक मात्र लक्ष्य है परिशोध और सत्य रक्षा. इसमें वीरोत्साह की सात्त्विक अभिव्यक्ति जिस सफलता के साथ साकार हो उठी है और सार्थक होती है उतनी कदाचित अन्यत्र नहीं. इसलिए यदि इस नवीन अंग को चिर प्रतिष्ठित वीर की अंगपूर्ति कहा जाय तो यह उचित ही होगा. [24]

एक प्रकार से बलिदानी वीर को कर्मवीर के अन्तर्गत लिया जा सकता वीर रस के भेदों में युद्धवीर ही अधिक मिलते हैं. दानवीर दधीचि, कर्ण, हरिश्चन्द्र, धर्मवीर युधिष्ठिर, भरत, दयावीर शिबि तथा सहिष्णु बलिदानी वीर गांधी आदि उंगलियों पर ही गिनाये जा सकते हैं.

साहित्य शास्त्रियों ने क्षमावीर नामक भेद को अलग से नहीं माना है, जैसे दया उत्साह के साथ मिलकर व्यक्त होती है वैसे ही क्षमा भी वीरता के साथ मिलकर आ सकती है.[25] क्षमावीर का भेद भी युद्धवीर, दानवीर, दयावीर, सहिष्णु बलिदानी वीर की तरह माना जा सकता है. शक्ति सम्पन्न व्यक्ति ही क्षमा कर सकता है. क्षमा तभी क्षमा कहलायेगी जब अत्याचारी व्यक्ति को दंड देने की शक्ति होते हुए भी उसे छोड़ दिया जाय. यदि इतिहास के पृष्ठों को पलटें तो हमें क्षमावीर का उदाहरण सहज ही मिल जाता है. भारत नरेश पृथ्वीराज चौहान ने मुहम्मद गोरी को कितनी बार क्षमा किया, चाहे इस प्रवृत्ति के कारण वह अदूरदर्शी कहलाया पर यह भारत नरेश के चरित्र का गौरव है कि उसने गोरी को बार बार क्षमा किया. उस जैसे क्षमाशील वीर मिलना दुर्लभ है.

निष्कर्ष :-

पूर्ववर्ती विवेचन के अंतर्गत वीर भावना के विविध पक्षों का जो विवरण प्रस्तुत किया गया है, उसके आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि संसार के प्राय: सभी देशों में अपनी निजी संस्कृति, सामाजिक परम्परा एवं ऐतिहासिक घटनाओं के अवबोध के अनुसार वीर भावना का सदा से महत्व रहा है. वीरता एक उदात्त चित्तवृत्ति है, जो व्यक्ति को साहसी ही नहीं बनाति, अपितु लाभ-हानि या विघ्न बाधाओं की बिना चिन्ता किये हुये उसे सोत्साह कर्म प्रवृत्त करती है. अत: यह मानसिक वृत्तियों को प्रभावित करके काव्य की प्रेरक बनती रही है. यही कारण है कि संसार में प्राय: सभी देशों में वीर काव्यों की रचना हुई है. भारतीय काव्य परम्परा में प्राय: धीरोदात्त नायकों की एक समृद्ध परम्परा विद्यमान है. पूर्ववर्ती विवेचन के आधार पर हम जब वीर वृत्ति के विविध पक्षों पर विचार करते है तो युद्धवीर, दयावीर, दानवीर, धर्मवीर, क्षमावीर, सहिष्णु बलिदानी वीर एवं कर्मवीर आदि अनेक

प्रकार के वीर प्रकाश में आते हैं. दान, धर्म, सहिष्णुता या बलिदान की वृत्तियाँ कर्म के अंग कहे जा सकते हैं. अतः इन सब को कर्मवीर के अंतर्गत लिया जा सकता है. इस प्रकार हम इन सभी को चार प्रकारों के अंतर्गत ले सकते हैं - युद्धवीर, दयावीर, क्षमावीर तथा धर्म या कर्मवीर.

रसः वीर रस
==========

पश्चिम के प्रसिद्ध दार्शनिक शापेनहावर (Shopanhowch) की यह उक्ति कि गंभीर दार्शनिक हुए बिना कवि होना संभव नहीं, भारतीय मनीषा की रस संबंधी- कल्पना पर अक्षरशः चरितार्थ होती है. प्राचीन साहित्य में रस शब्द का प्रयोग आस्वाद [26] सारभूत तत्व, आनन्दमयी सत्ता [27] तथा रसायन पारद [28] आदि अनेक अर्थों में हुआ हैं. अमरकोष और वेदों का आस्वाद और आनन्दमयी सत्ता का तात्पर्य ही कलान्तर में साहित्य के अंतर्गत ग्रहीत हुआ, आयुर्वेद का पारद या रसायन नहीं.

जिस प्रकार भोज्य प्रदार्थ हमारी रसना को तृप्त करके अपने गुणों से शरीर को पौष्टिक बनाता है उसी तरह काव्य रस हमारे हृदय रसना को तृप्त करता है. स्वाद ऐसी वस्तु है जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता. उसके प्रकारों का तो हम नामकरण कर लेते हैं परन्तु उसके सामान्य अनुभव का चित्रण हम नहीं कर पाते. उसे सुख या आनंद कह कर ही व्यक्त करते हैं. काव्य रस के स्वाद को कुछ विद्वानों ने आनंदमयी सत्ता कहा हैं. कवि रस की योजना करता है. उसका आस्वाद व्यक्ति अभिनय देख कर या सुन पढ़कर प्राप्त करता है. कवि काव्य में जिन भावों की योजना करता है वे ही भाव सहृदय में संस्कार रूप में पहले से ही विद्यमान रहते हैं. और जाग्रत होकर रस रूप में परिणत हो जाते हैं. कवि अपने भावों को काव्य में इस प्रकार व्यक्त करता है कि दर्शक या श्रोता पाठक उसके भाव को ग्रहण करके ठीक वैसी ही स्थिति में आ जाता है. जैसाकि कवि को अभिप्रेत है. सामान्यतः

इसे रस निष्पत्ति कहा जा सकता है.

रस के शास्त्रीय स्वरूप का सर्वप्रथम निरूपण भरतमुनि ने अपने नाट्य-शास्त्र में किया है. इसी नाट्यधर्मी [redacted] रस के संबंध में इन्होंने विभाव, अनुभाव, संचारी या व्यभिचारी भाव और स्थायी भाव के संयोग की चर्चा की है आचार्य भरत के अनुसार -

" विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद् रस निष्पत्ति " [29]

अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी के संयोग से ही रस की निष्पत्ति होती है. उक्त रस सूत्र को केन्द्र मानकर संस्कृत के भट्ट लोलट, आचार्य शंकुक, भट्टनायक और अभिनव गुप्त प्रभृति रसवादी आचार्यों ने रस से संबंधित अनेक प्रश्न उठाये और उन प्रश्नों का अपने दृष्टि-कोण से समाधान खोजा. अभिनव गुप्त रससूत्र के अंतिम व्याख्याता आचार्य हैं जिन्होंने " शैवाद्वैत " की विचार धाराओं को रस सूत्र के साथ जोड़कर रस का दार्शनिक धरातल पर स्वरूप निश्चित किया. यही दार्शनिकता आगे चलकर रस के स्वरूप में दृढ़ता से प्रतिष्ठित की गयी. इसका सार-रूप आचार्य विश्वनाथ ने अपने " साहित्य दर्पण " में प्रस्तुत किया है. [30] रस निष्पत्ति के समय हृदय लौकिक राग द्वेष से परे होकर विशुद्ध और निष्पक्ष हो जाता है. शास्त्रकार उसे रजोगुण और तमोगुण से असंस्पृष्ट मन की स्थिति कहते हैं. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इसे " हृदय की मुक्त दशा " मानते हैं. [31]

भरतमुनि से लेकर विश्वनाथ तक जो रस चर्चा हुई है उसके संबंध में अनेक महत्वपूर्ण बातें उठायी जाती रही हैं. सर्वप्रथम तो हमें यह बात ध्यान में रखनी होगी कि भरत का रस-सूत्र जिस रस की परिभाषा दे रहा है वह नाट्य रस था. इसलिए वहां तो आलंबन, आश्रय, उद्दीपन, अनुभावों और संचारी भावों की विशाल योजना संभव थी. किन्तु आगे चलकर जब यह रस नाट्य की विधा के साथ-साथ सम्पूर्ण काव्य पर प्रक्षिप्त

हो गया. उस समय रस के रूप पर शंकायें स्वाभाविक ही थीं. रस के संबंध में एक आपत्ति यह भी है कि जितने स्थायी भाव हमारे शास्त्रकारों ने कल्पित किये हैं उनके अतिरिक्त भी हमारी संवेदनाये हो सकती हैं. इसका पहला उदाहरण हमें विशाखादत्त के " मुद्राराक्षस " नामक नाटक में मिला जहाँ पर केन्द्रीय भाव " संत्रास " शास्त्रों में उल्लिखित कोई स्थायी भाव नहीं है . आधुनिक कवियों में अकेलेपन की भावना, कुंठाओं की अनुभूति, संत्रास, लघुमानवता जैसी स्थितियाँ इन स्थायी भावों में समाहित नहीं हो सकतीं, इसलिए रस का यह स्वरूप अव्याप्ति दोष से ग्रसित है. इसका वास्तव में शास्त्रीय स्वरूप हमारी भावुकता पर आधारित है. श्रृंगार, वीर, करुण आदि सभी रस हमारे कोमल भावनाओं पर ही पल्लवित होते हैं लेकिन आधुनिक मानव इसके अतिरिक्त भी सोचता है और विभिन्न विवेकपूर्ण या तर्कपूर्ण अनुभूतियोंकी भी काव्यात्मक अभिव्यक्ति करता है. उस समय रस का यह स्वरूप असंगत प्रतीत होने लगता है. वस्तुतः रस की यह धारणा प्राचीनकाल के उपलब्ध ग्रंथों के आधार पर विकसित हुई थी जो आधुनिक काव्यों में पूर्णतः चरितार्थ नहीं होती.

रस जीवन की प्रेरक शक्ति है. वस्तुतः यह विश्व जीवन का प्रतीक है. भगवान के लिए भी कहा गया है- " रसो वैसः " वह रस स्वरूप है. [32] साहित्य और जीवन में रस की महत्ता निर्विवाद है. साहित्य शास्त्रियों ने रस का वर्गीकरण अनेक रूपों में किया है. काव्य शास्त्र में रस की संख्या प्रायः 9 मानी गयी है. जिस प्रकार मनुष्य की कड़ुवा, मीठा, खट्टा, तीता, कसैला आदि अपनी प्रकृति के अनुसार रुचिकर आस्वाद है उसी प्रकार विभिन्न रस भी विभिन्न कोटि के अनुभव देते हैं. प्रकृति के अनुसार हम इसका भी विभाजन कर सकते हैं. श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक,वीभत्स, अद्भुत आदि आठ रस नाटक में पाये जाते हैं. [33]

डॉ० भगीरथ मिश्र ने अपने ग्रंथ " काव्य मनीषा " में तामस, राजस

और सात्विक प्रकृति के अनुसार रस भेद किया है. राजस प्रकृति से संबंधित तीन रस हैं- वीर, करुण और हास्य. सात्विक प्रकृति से संबंधित तीन रस हैं - श्रृंगार, अद्भुत और शान्त. तथा तामस प्रकृति के संबंधित तीन रस - वीभत्स, रौद्र और भयानक. [34] अतः उनकी अनुभूतियाँ भी अपनी-अपनी प्रकृति के आधार पर पाठक, श्रोता या दर्शक को भिन्न-भिन्न रूपों में होती हैं.

भवभूति ने " एकोरसः करुण " कहकर करुण रस की महत्ता स्थापित की है. इसका स्थायीभाव शोक है. शोक चित्त को द्रवित करनेवाला है. करुण रस के जाग्रत होने पर अन्य सभी भाव और रस इसके अंतर्गत समाहित हो जाते हैं. इसी स्थिति के कारण करुण रस की व्यापकता और प्रबलता सिद्ध होती है. शोक की स्थिति सभी को द्रवित कर देती हैं. पर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या वास्तव में करुण रस ही एक मात्र रस है और रसों को हम करुण रस के भेद के रूप में कैसे स्वीकार कर सकते हैं ? करुण रस में जीवन को गति प्रदान करने की शक्ति नहीं है. भवभूति के उपरान्त आचार्य अभिनव गुप्त ने शान्त रस को एकमात्र रस माना है. शान्त में " शम् " की स्थिति है जिसमें चित्त समरस रहता है. परन्तु कुछ अन्य विचारक तो शान्त रस को रस ही नहीं मानते क्योंकि इस स्थिति में निष्क्रियता प्रधान रहने के कारण आस्वाद एवं क्रिया विरति की अवस्था हो जाती है. अतः रसत्व की प्रबल अनुभूति इसमें किस तरह हो सकती है ? शान्त रस में उत्साह का किंचित अभाव ही रहता है. यदि हम रस को ब्रह्मानंद सहोदर मानते हैं तो शान्त रस उस स्थिति के अधिक निकट पहुँचता है क्योंकि ब्रह्म की प्राप्ति भी निर्वेद और ज्ञान से होती है और शान्त का स्थायी भाव भी निर्वेद है. इसी विचारधारा के संदर्भ में अद्भुत रस का विवेचन भी आता है. आचार्य विश्वनाथ ने अपने साहित्य दर्पण में " अद्भुत रस " को ही सब रसों का मूल माना है. वीर रस का स्थायी भाव उत्साह " अद्भुत " में भी परिव्याप्त है. उपर्युक्त हास्य, रौद्र, वात्सल्य में भी इसका समावेश है.

श्रृंगार को रसराज मानने वाले आचार्य भोजराज हैं. श्रृंगार को आदि रस और उज्जवल रस भी कहा जाता है. श्रृंगार जीवन के सौन्दर्य एवं मंगल का प्रतीक है. इसके दो भेद - संयोग श्रृंगार तथा वियोग या विप्रलम्भ श्रृंगार माने गये हैं. श्रृंगार के लिए भी उत्साह की अपेक्षा है. बिना उत्साह के श्रृंगार रस पत्र पुष्पविहीन लता के समान है. यदि दम्पत्ति में एक दूसरे के लिए उत्साह, उमंग एवं आकर्षण नहीं है श्रृंगार विकर्षण या उदासीनता का रूप धारण कर लेता है,, जो संबंध विच्छेद का कारण बनता है. अतः यह स्पष्ट होता है कि वीर रस के बिना श्रृंगार रस पंगु एवं निर्जीव है ।

उपर्युक्त तथ्यों के संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि भारतीय काव्य शास्त्र में वीर रस का भी महत्वपूर्ण स्थान है. समस्त काव्यरूपों में महाकाव्य की सर्वप्रमुखता सर्वविदित है. महाकाव्य के लक्षणों में रस या भाव की प्रधानता के संदर्भ में श्रृंगार, वीर और शान्त इन तीन रसों में से किसी एक को अंगी रस के रूप में स्थान देने का विधान स्वीकार किया गया है.[35] नायक को " धरोदात्त गुणान्वितता " कहकर वीर रस की योजना को स्वीकार किया गया है. " साहित्य दर्पण " के रचयिता विश्वनाथ ने श्रृंगार रस के पश्चात् यदि किसी रस का महत्व स्वीकारा हो तो वह वीर रस ही है. वीर रस ऐसा रस है जिसमें सहृदय का पक्ष और रसों की अपेक्षा अधिक प्रकट होती है. वीर रस का सारा खेल ही कर्म सौन्दर्य पर आश्रित है. वीर ऐसा बाजगीर है कि वह अपने कर्म सौन्दर्य से बुद्धि को चमत्कृत करता है उसकी भावधारा में सहृदय को भी डुबो देता है. चमत्कार और कर्म सौन्दर्य सहृदय में उत्साह जाग्रत करके वीर रस की उत्पत्ति करते हैं. आश्रय के उत्साह में वीरता सन्निहित रहती है. जो कर्म में प्रवृत्त रहता है वह अपने को वीर नहीं कहता. उस कर्मी के कर्म को देखनेवाला ही उसे वीर कहता है. वास्तव में उत्साही को सहृदय ही वीर संज्ञा से अभिहित करता है. अतः वीर रस सहृदय की दृष्टि से ही देखा जाता है.

साहित्य में जितने रस गिनाये गये हैं उन सब में शृंगार को छोड़कर अन्य रसों में वीर रस की व्याप्ति बहुत अधिक है. शृंगार रस का स्थायी भाव " रति " जिस प्रकार सृष्टि के चराचर सब जीवों में पाया जाता है उसी प्रकार वीर रस का उत्साह भी सर्वत्र दिखाई देता है. शृंगार रस हृदय की कोमल भावनाओं को तृप्त करता है परन्तु उसमें कर्मनिष्ठता बद्धमूल नहीं होती . वीर रस में सहृदय की भावनाओं की तृप्ति के साथ कर्मनिष्ठा मूल रूप में विद्यमान रहती है. यह रस न तो संसार से विराग उत्पन्न होने देता है, न यह संसार की भोगलिप्सा में ही फँसाये रखता है और न ही ऐसे मार्ग पर अग्रसर होने देता है जो समाज के उद्देश्यों के प्रतिकूल हों. किसी भी काल और देश में पाये जाने वाले मानव धर्म के गुणों की पुष्टि भी करता है. वीर रस अनीति के दमन के लिए भी है. किसी भी देश का उत्थान वहाँ के वीर पुरुषों द्वारा ही हुआ. जब भी किसी देश ने अपना वीर वेश त्याग-कर विलास को अपनाया, तब- तब वह नष्ट हुआ. उसकी कर्तव्यशीलता समाप्त हुई. वीरता के गुण केवल युद्ध के समय ही प्रकट नहीं होते जीवन की समस्त परिस्थितियों में भी प्रकट होते हैं. दान, दया आदि में भी वे देखे जाते हैं. तलवार या भालों की नोकों से युद्ध करना ही वीरता नहीं है अपितु समाज में आदर्श स्थापित करने वाले भी वीर होते हैं.

वीर रस के अवयव -

रस का शास्त्रीय दृष्टि से विवेचन करने के पश्चात् इस अध्याय में हम रस के अवयव- स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी आदि का विवेचन क्रमशः प्रस्तुत करेंगे. रसाभिव्यक्ति के भीतर प्राचीन आचार्यों ने अवयवावयवी सम्बन्ध नहीं माना, अपितु उन्होंने विभाव,अनुभाव आदि के साथ समूहालम्बनात्मक और अखण्ड अभिव्यक्ति ही रस की स्वीकार की है-- इसलिए रस-प्रक्रिया के भीतर विभाव, अनुभाव, संचारी आदि का प्रविभाग उन्होंने कारण, कार्य, सहकारी आदि के रूप में करके उसकी नितान्त व्याव-हारिक व्याख्या का परिचय दिया है. [36]

रस प्रक्रिया की साधन सामग्री को हम दो भागों में बाँट सकते हैं. पहला वर्ग रसभावादि का है और दूसरा वर्ग विभावादि का है. पहले को अनुभूति पक्ष या भाव पक्ष और दूसरे को अभिव्यक्ति पक्ष या कला पक्ष भी कह सकते हैं. जीवन का सुख-दुःखात्मक द्वन्द्व ही सब प्रकार के भावों का मूल स्त्रोत है, इच्छा-अनिच्छा, आकर्षण-विकर्षण, दया-घृणा, राग-द्वेष आदि समस्त द्वन्द्व सुख-दुःख के ही चारों ओर चक्कर काटते हैं. जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त एक क्षण के लिए भी सुख-दुःख किसी जीव को नहीं छोड़ते , तटस्थता या उदासीनता नाम की कोई भी ऐसी चीज नहीं जिसके साथ सुख-दुःख न जुड़े हों. इन सुखानुभूति और दुःखानुभूति की भी दो अवस्थाएँ हैं, एक तात्कालिक और दूसरी संस्कारात्मक.

आचार्य भरतमुनि ने " भाव " शब्द की व्याख्या अत्याधिक मार्मिक ढ़ंग से की है. उनके मतानुसार-

1. जो होते हैं वे भाव हैं. [37]
2. जो भावित करते हैं वे भाव हैं. [38]
3. कवि के आन्तरिक भाव या मनोभावों को दर्शाने वाले भाव हैं. [39]

पहले दो अर्थ " भाव " की उत्पत्ति से संबंध रखते हैं, जबकि तीसरा अर्थ रस शास्त्रीय अर्थ का द्योतक है. इसलिए डा० नगेन्द्र ने भी अपने " रस- सिद्धान्त"नामक ग्रंथ में लिखा है--

" भरत के भाव विवेचन से स्पष्ट है कि उन्होंने व्यापक रूप से तीसरा अर्थ ग्रहण किया है; जो रस का भावन करें वे भाव हैं. अर्थात् भाव से अभिप्राय रस-व्यंजक सामग्री का ही है जिसके अंतर्गत स्थायी,संचारी के साथ विभाव और अनुभाव भी आ जाते हैं, किन्तु आगे चलकर उन्होंने विभाव और अनुभाव को पृथक कर दिया है और भावों की संख्या उनचास मानी है. [40]

भरत के परवर्ती संस्कृत आचार्यों ने भाव के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उसे क्रमशः सुख-दुःख की अनुभूति [41] चित्तवृत्ति विशेष [42] मनोभाव [43] आदि के अर्थ में ग्रहण किया है. आधुनिक युग के अनेक हिन्दी विद्वानों ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भाव का स्वरूप विवेचन किया है, जिसमें डा० नगेन्द्र और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के नाम उल्लेखनीय हैं.

डा० नगेन्द्र के मतानुसार " बाह्य जगत् के संवेदनों से मनुष्य के हृदय में जो विकार उठते हैं वे ही मिलकर भाव की संज्ञा प्राप्त करते हैं. [44] आचार्य शुक्ल के विचारानुसार " प्रत्येक बोध, अनुभूति और वेगयुक्त प्रवृत्ति-इन तीनों के गूढ़ संश्लेष का नाम भाव है. [45]

भरत प्रतिपादित भाव का जो विवेचन संस्कृत के आचार्यों और आधुनिक हिन्दी के विद्वानों ने किया है, उससे यह स्पष्ट होता है कि भाव के अंतर्गत सुख दुःख की अनुभूति, चित्तवृत्ति विशेष, प्रत्यय बोध तथा वेगयुक्त प्रवृत्ति के साथ-साथ संवेदना जन्य मनोविकार सन्निहित हैं.

आधुनिक युग में मनोविज्ञान में भाव शब्द के लिए " भाव " या " संवेग " प्रचलित हैं. " इमोशन " शब्द की उत्पत्ति लैटिन के " इ " (=बाहर) + मूवरी (= चलना) से हुई. मूलतः इस शब्द का अर्थ एक स्थान से दूसरे स्थान को जाना था, जिसे स्थानान्तरण या निष्क्रमण कहते हैं. आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने इमोशन को निम्नलिखित ढंग से परिभाषित किया है. वुडवर्थ (Wood worth) महोदय ने कहा है कि भाव अनुभूति की संक्रमित या उत्तेजित अवस्था है. [46] यंग (Young) महोदय भाव को परिभाषित करते हुए कहते हैं " भाव व्यक्ति की तीव्र अव्यवस्थित (या उद्दीप्त) मानसिक अवस्था है. [47]

मनुष्य के हृदय में संस्कार के रूप में स्थित भावों की गणना करना संभव नहीं है पर इसके दो वर्ग किए जा सकते हैं. पहले वर्ग में उन भावों को

रखा जा सकता है. जिनके संस्कार प्रत्येक व्यक्ति के भीतर बहुत कुछ जन्मजात होते हैं किंवा अत्यन्त गहरे, सघन और सर्व-सामान्य होते हैं. इसीलिए ये अत्यन्त टिकाऊ (स्थिर या स्थायी) हैं. काव्य का क्षेत्र में इन्हें स्थायी भाव कहते हैं.

दूसरे वर्ग में वे भाव आते हैं जो स्थायी भावों की अपेक्षा कम सघन हैं वे संचारी भाव हैं. संचारी भाव सहकारी बनकर स्थायी भाव के परिवेश में ही मीलनोन्मीलन करता हुआ संचरण करता है इसीलिए यह संचारी है. एक ही स्थायी या रस परिणामी स्थायी भाव में अनेक संचारी भावों की सहकारिता हो सकती है और एक ही स्थायी भाव अनेक स्थायी भावों या रस परिणामी स्थायी भावों में सहचरण कर सकता है, इसलिए अपनी अनियत स्थिति के कारण संचारी भाव को व्यभिचारी भाव ही कहा जाता है. रस सामग्री की उपर्युक्त संक्षिप्त चर्चा के पश्चात् रस के अवयवों का अनुशीलन केवल वीर रस तक ही सीमित रखना यहाँ उचित होगा जो कि परवर्ती विवेचन का विषय है.

वीर रस के स्थायी भाव

मानव हृदय में स्थिर रूप से रहनेवाले भाव स्थायी भाव कहलाते हैं. भरतमुनि ने यद्यपि रस सूत्र का उल्लेख करते हुए उनका वर्णन नहीं किया है परन्तु रस के उपकरणों का वर्णन करते हुए, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विस्मय इन आठ स्थायी भावों का उल्लेख किया है. परवर्ती आचार्यों ने स्थायी भाव पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करते हुए उन्हें जन्मजात और वासना संस्कार के रूप में विद्यमान रहने वाला माना है. [48] आधुनिक युग के समीक्षकों और आचार्यों ने इन आचार्यों द्वारा दी गयी विशेषताओं को माना परन्तु आचार्य शुक्ल ने इस पर पुनः विचार करते हुए अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है -

" भावों के स्वरूप के भीतर ही वह वस्तु है जिसके अनुसार प्रधान या संचारी का विभाग होता है, वह वस्तु है आलम्बन. आलम्बन या तो सामान्य होता है या विशेष ----- इस विभेद को ध्यान में रखकर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रधान भावों की गिनती में वे ही भाव रखे गये हैं जिनके आलम्बन " सामान्य " हो सकते हैं, शेष भाव या मनोभाव संचारियों की श्रेणी में डाले गये हैं क्योंकि उनमें से किसी किसी के स्वतंत्र विषय होंगे तो भी श्रोता या दर्शक का ध्यान उनकी ओर प्रवृत्त नहीं रहेगा. " [49]

आचार्य शुक्ल के उपर्युक्त विचार पूर्णतः स्वीकार्य नहीं है इसका कारण यह है कि उन्होंने स्थायी भावों की काव्यगत स्थिति को ही ध्यान में रखकर व्याख्या की है जिससे लौकिक एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से स्थायी भाव की किसी विशेषता का उद्घाटन नहीं होता. विलियम मैकडूगल (William Mc Dugall) मनोभावों को सहज प्रवृत्तियों का भावात्मक पक्ष मानते हैं. अर्थात् हम कह सकते हैं कि स्थायी भाव जन्म जात होते हैं और इन्हीं के द्वारा ही हम रस का आस्वादन कर सकते हैं. [50]

डा० गुलाबराय ने स्थायी भावों को सहज प्रवृत्तियों (Instincts) से संबंधित माना है. [51]

वीर रस का स्थायी भाव उत्साह है. आचार्य भरतमुनि ने वीर रस की व्याख्या करते हुए कहा है कि वीर रस उत्साहात्मक और उत्तम प्रवृत्ति का है जो असम्मोह, अध्यवसाय, नय, विनय, बल, पराक्रम, शक्ति, त्याग, वैशारद्य आदि भावों से युक्त होता है. धृति, मति, गर्व, आवेग, उग्रता, अमर्ष, स्मृति व रोमांचादि इसके स्थायी भाव होते हैं और इन सब के सम्यक संयोग से वीर भाव वीर रस में परिणत हो जाता है. [52] इन भाववृत्तियों से जहाँ उत्साह का पोषण होता है वहाँ वीर रस की निष्पत्ति समझनी चाहिए. उत्साह मन की एक प्रयत्नमूलक उल्लासपूर्ण वृत्ति है जिसके द्वारा मनुष्य उत्कट आवेश के साथ किसी कार्य को करने में प्रवृत्त होता है जिसकी

अभिव्यक्ति शक्ति, शौर्य एवं धैर्य के प्रदर्शन में होती है.

भानुदत्त ने परिपूर्ण उत्साह के साथ सभी इंद्रियों का प्रहर्ष या उत्फुल्लता की स्थिति को वीर रस में स्वीकार किया है. [53] इसका स्थायी भाव उत्साह है और उत्साह की सीमा नहीं बांधी जा सकती. शौर्य की प्रच्छन्न शक्ति है वह मानव को विभिन्न भूमिकाओं में उत्साह से अग्रसर होने के लिए प्रेरित करती है. वीर रस के स्थायी भाव है उत्साह के बिना मानव जीवन का कोई कार्य सुचारू रूप से नहीं हो सकता. यही कारण है कि विश्व साहित्य में वीरता और उत्साह का बहुत गुणगान हुआ है, जिसे हम पूर्ववर्ती पृष्ठों में भी निर्दिष्ट कर चुके हैं.

आचार्य विश्वनाथ ने उत्साह को प्रयत्नमूलक § व्यवसायात्मक § माना है यह असम्मोह अर्थात् जागरूकता आदि गुणों से विकसित होता है. इनके अनुसार कार्य के करने में आदि से अंत तक रहने वाला स्थिर संरम्भ ही उत्साह है. [54] आचार्य अभिनव गुप्त ने उत्साह का निरूपण करते हुए कहा है कि उत्साह बुद्धि के एक निश्चयात्मक व्यापार की फलरूप वृत्ति है. इससे कर्म की ओर प्रेरणा निहित है. इस कर्म का उद्देश्य धर्म आदि कोई अच्छा उद्देश्य होता है. [55] अभिनव गुप्त उत्साह की परिभाषा दो प्रकार से देते हैं. एक तो यह है कि उत्साह उत्तम व्यक्तियों की प्रवृत्ति का स्वभाव है. दूसरा यह कि काव्य नाटक में उत्तम प्रवृत्ति वाले नायकादि पात्रों में ही इसका विधान किया जाता है और वही रसोपयोगी आस्वाद्य होता है. [56]

धर्म आदि विविध उद्देश्यों को ध्यान में रखकर विषाद- विस्मय और सम्मोह का लेश न रखते हुए, जो बुद्धि की निश्चयात्मिका वृत्ति है, वह उत्साहित करने अर्थात् कर्म प्रेरिका होने के कारण " उत्साह " कहलाती है. अभिनव गुप्त के निरूपण से निम्न तथ्य स्पष्ट होते हैं-

1. उत्साह बुद्धि के एक निश्चयात्मक व्यापार की फलरूप वृत्ति है.
2. इसमें कर्म की ओर प्रेरणा निहित है.
3. इस कर्म का उद्देश्य धर्म आदि कोई अच्छा उद्देश्य होता है.
4. इस बौद्धिक अध्यवसाय में विषाद और खिन्नता नहीं होती, आनन्द या आनन्दपूर्ण उमंग होनी चाहिए. विस्मय अर्थात् बुद्धि व्यामोह नहीं होना चाहिए.

आनन्दवर्द्धन की मान्यता है कि उत्साह में कुछ न कुछ अभिमान और अहंकार का योग होता है. [57] इसी आधार पर उन्होंने शान्त और वीर में अन्तर प्रतिपादित किया है. शान्त में अहं का अभाव है जबकि वीर में अहं का उद्वेलन . वास्तव में साहित्य दर्पणकार भी भरतमुनि के दृष्टिकोण से पूर्णत: सहमत हैं. उत्साह का भाव जब विशेष स्थिति को प्राप्त करता है तब मन की आवेगमयी उत्फुल्लता वीर रस का संचार करती है. हिन्दी के वरिष्ठ समालोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का " उत्साह " के विषय में कथन है -" उत्साह में कष्ट या हानि सहने की दृढ़ता के साथ कर्म में प्रवृत्त होने से आनन्द का योग रहता है. साहसपूर्ण आनन्द की उमंग का नाम उत्साह है. [58] प्रयत्न और कर्म संकल्प उत्साह नामक आनन्द के नित्य लक्षण हैं. वे आनन्द की उमंग से शून्य कोरे उत्साह को उत्साह स्वीकार नहीं करते. उत्साह के असाधारण कर्म में महत्त कर्म और महत्प्रयत्न दोनों की आवश्यकता है. कभी-कभी लोग कार्य तत्परता को ही उत्साह मान बैठते हैं. कार्य तत्परता उत्साह का एक आवश्यक गुण है, किन्तु सामान्य कार्य-तत्परता मात्र वीर रस की पुष्टि नहीं कर सकती. उत्साह स्वत: नहीं व्यक्त होता, किसी न किसी भाव से प्रेरित होकर प्रकट होता है. जिस भाव से प्रेरित होकर यह प्रकट होता है उस भाव का अभीष्ट कोई कर्म होता है और वह कर्म उत्साह की सहायता से ही सिद्ध होता है. उत्साह असाधारण कार्य करने की भावना है. किसी भी असाधारण कार्य के मूल में कोई न कोई भाव अवश्य छिपा होता है. उस भाव में स्वत: कार्य करने की शक्ति नहीं होती. यह शक्ति उत्साह से मिलती है. अत: उत्साह उक्त भाव से प्रेरित माना जाता है.

पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी " उत्साह " का पर्याप्त विवेचन हुआ है. सहज वृत्तियों का आधार वीर रस के संदर्भ में विचार किया जाये तो इसका सम्बंध अस्तित्व स्थापन (Assertive) और प्राप्तीच्छा (Acquisition) से माना जा सकता है. डॉ० भगीरथ मिश्र ने चौदह मनोवृत्तियों के सहगामी चौदह मनोभाव माने हैं. [59] उन्होंने अधिकार मनोवृत्ति का संबंध उत्साह या वीरत्व से माना है. पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों द्वारा प्रतिपादित अस्तित्व स्थापन तथा प्राप्तीच्छा के सिद्धान्त वीर रस के स्थायी भाव उत्साह से भी सम्बन्धित है इसका निरूपण इस प्रकार किया जा सकता है-

वीर नायक सर्वप्रथम फल की ओर आकृष्ट होता है उसका यह आकर्षण बढ़कर उस फल पर अधिकार की इच्छा करता है जिसे मैकडूगल ने प्राप्तिइच्छा (Acquisition) कहा है. वीर उस फल को प्राप्त करने के लिए लाला-यित होगा जिससे उत्साह उत्पन्न होगा जो वीर रस का स्थायी भाव है. यह आगे बढ़कर प्रयत्न को जन्म देगा. प्रयत्न करते हुए उसके सामने कितनी ही अवरोधक शक्तियाँ आयेंगी जिनका दमन करते हुए वह अपनी फल प्राप्ति की यात्रा को जारी रखेगा. इन अवरोधक शक्तियों का दमन वह अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए करेगा इसी को मैकडूगल ने अस्तित्व स्थापन (Assertive) कहा है. अन्तिम चरण फल प्राप्ति है. इस प्रकार वीर नायक की आकर्षण से लेकर फल प्राप्ति तक की मात्रा उत्साह पूर्ण होगी. और यह उत्साह आकर्षण जनित होगा. तब तक किसी वस्तु में तथा वीर नायक के मन में वस्तु के लिए आकर्षण नहीं होगा तब तक वीर रस की मात्रा आरम्भ ही नहीं हो सकती. इस क्रिया को नीचे ग्राफ द्वारा दिखाने का प्रयत्न किया ह-

(ग्राफ को पृ. 21 पर देखें)

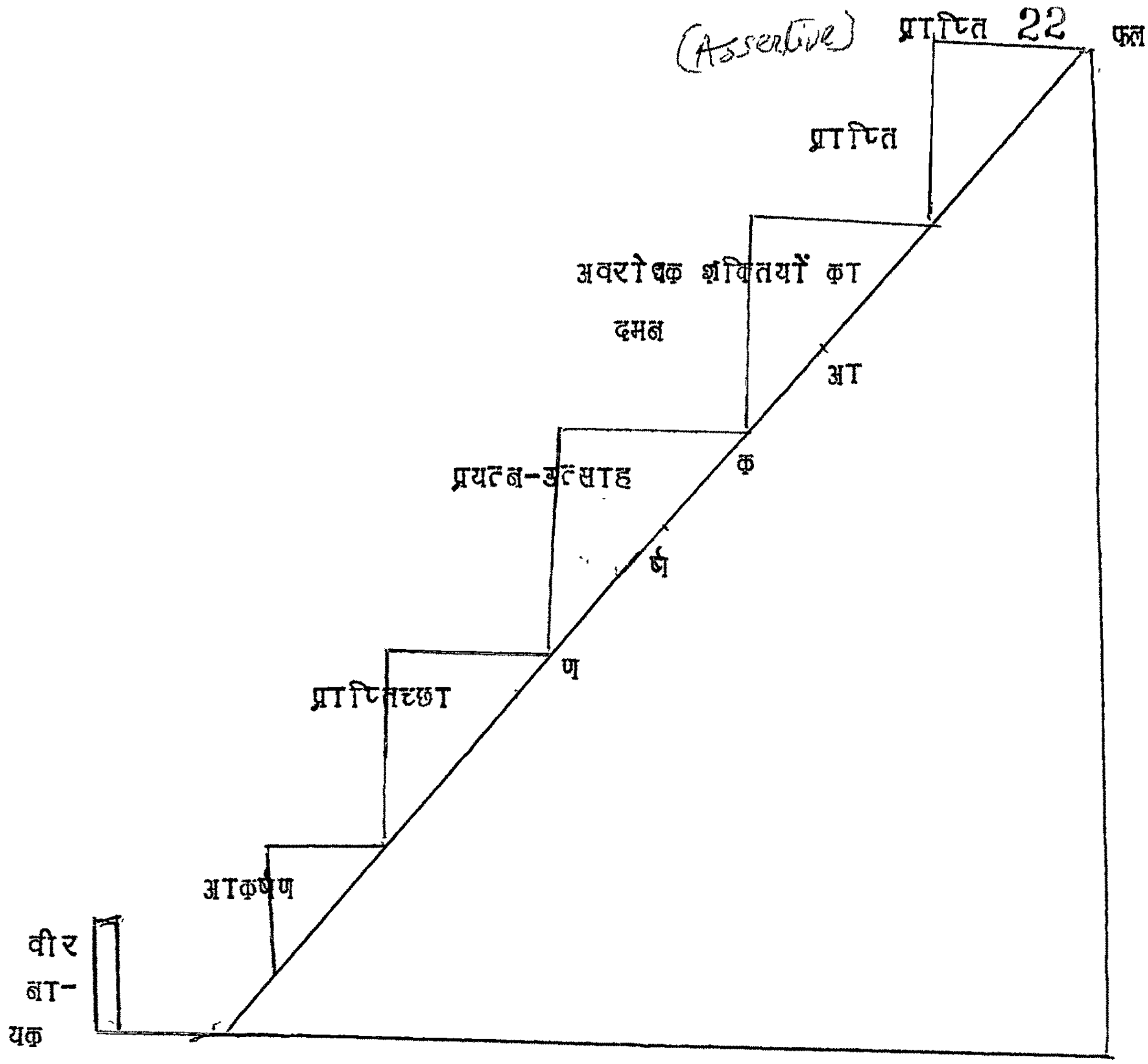

भारतीय विद्वानों द्वारा स्वीकृत वीर रस के स्थायी भाव " उत्साह " को ही पाश्चात्य मनोवेत्ताओं ने प्रकारान्तर से अस्तित्व स्थापना तथा प्राप्तिच्छा के रूप में स्वीकार किया है ।

विभाव

साहित्य में रस निष्पत्ति के लिए अपेक्षित तत्वों में विभाव अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है. यद्यपि विभाव स्वयं कोई भाव नहीं विशेष न होकर भावोद्दीपन का कारण मात्र है, किन्तु उसके अभाव में किसी भी भाव की उद्दीप्ति कठिन है. अतः इस दृष्टि से यह रस के अनिवार्य साधनों में से एक हैं. वस्तुका काव्यगत रूप ही विभाव है. साहित्य दर्पणकार के अनुसार जो

सामाजिकगत रति आदि भावों को विभावित अर्थात् आस्वाद रूपी अंकुर के योग्य बनाते हैं वे विभाव है.[60] यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि विभाव और भाव का संबंध अविच्छिन्न है. विभाव और भाव से रूप और रस का ही बोध होता है और रूप ही रस सृष्टि करता है, या रस को जागृत करता है. धनंजय विभाव भाव को पुष्ट करने वाला मानते हैं.[61] पंडित जगन्नाथ स्थायी भावों के लोकप्रचलित कारणों को विभाव कहते हैं.[62]

काव्य की रूप रचना में केवल भाषा के आवेग का मूलक प्रवाह या चित्र धर्म ही मुख्य नहीं हैं उसके अर्थ का भी मूल्य है. भाव और चित्र के साथ अर्थ संयुक्त रहते हैं और रूप सृष्टि में अर्थ, भाव और चित्र ये तीनों बातें मिलकर रसास्वादन कराती हैं. कवि के रचनाकाल में भाव, चिन्ता, अभिज्ञता, कामना अनुषंगिक अनेक प्रश्न आ इकट्ठे होते हैं कि कवि बड़ी सतर्कता से अखण्ड रस सृष्टि में समर्थ होता है. वह कुछ तो छोड़ देता है कुछ बदल देता है और कुछ सोच विचार कर, जाँच पड़ताल कर, समझबूझ कर अपने मन लायक उपकरणों को गढ़ लेता है. इस प्रकार कवि विभिन्नताओं के बीच ऐसी समता स्थापित कर देता है कि उसका प्रभाव विस्तृत हो जाता है. दर्पणकार कहते हैं-

" काव्य वस्तु में नायक का रस के अनुपयुक्त जो कुछ भी हों उसको या तो छोड़ देना चाहिए या उसमें परिवर्तन कर देना चाहिए.[63]

आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के मतानुसार किसी भी भाव की उद्दीप्ति के लिए किसी न किसी उद्दीपक कारण का { Stimulus } का होना आवश्यक है, जिसे रस सिद्धान्त की शब्दावली में " विभाव " कहा जा सकता है. मैक्डूगल के मतानुसार भावात्मक तत्वों का विवरण प्रस्तुत करना प्रायः कठिन होता है. सामान्यतः जब हम किसी भावानुभूति की चर्चा करते हैं तो उस समय किसी विशेष आलम्बन {object } या परिस्थिति { situation } के सम्पर्क से प्राप्त अनुभव का ही व्याख्यान करते हैं.[64]

वुडवर्थ ने तो " भाव " की परिभाषा में ही उसके उद्दीपक कारण को प्रमुख रूप से स्थान देते हुए लिखा है- " भाव [संवेग] व्यक्ति की उद्दीप्त या उत्तेजित अवस्था के सूचक हैं तथा प्रत्येक भाव का विवरण--- उसे उद्दीप्त करने वाली बाह्य परिस्थिति के आधार पर ही दिया जा सकता है. विभिन्न भावों की पहचान भी उन्हें उद्दीप्त करने वाली बाह्य परिस्थितियों के द्वारा ही की जाती है. [65]

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि सामाजिक के संस्कार मात्र को उद्बुद्धरूप में आस्वादोन्मुख बनाने वाले काव्य के कारण रूप पात्र [तद्रूप अभिनेता भी] तच्चेष्टा, भाव या वस्तु के चित्रण आदि का नाम विभाव है.

नाट्य शास्त्र में भरतमुनि ने असंमोह, अध्यवसाय, नय, विनय, बल, पराक्रम, शक्ति, प्रताप, प्रभाव आदि को विभाव बताया है. [66] जो लोग विभाव के अंतर्गत केवल आलम्बन को ही मानते हैं उनके मत से तो ये गुण आलंबन में ही होने चाहिए. किन्तु वीर रस में आश्रय भी बहुत शक्तिशाली होता है. यदि आलंबन आश्रय से निम्नस्तर का व्यक्ति होगा तो आश्रय का उत्साह सहृदय को रस का समुचित आस्वाद कराने में असमर्थ होगा. रावण यदि वीरता में राम से कम होता तो रावण को मारने में राम की वीरता का महत्व उतना न होता. भरतमुनि द्वारा बताये गये विभावों को देखकर यह शंका उठती है कि ये गुण आलंबन के हैं अथवा आश्रय के. यदि इन्हें हम आलम्बन के गुण मान लें तो दानवीर, दयावीर और धर्मवीर के संदर्भ में ऐसे अनेक प्रसंग आ जायेंगे कि हम इन्हें आलम्बन के गुण नहीं मान सकेंगे. यदि उत्साही प्रतिद्वन्द्वी के बल पराक्रम आदि को देखकर अथवा अपने बल प्रदर्शन द्वारा शत्रु के अहंकार का दमन करने के हेतु युद्ध के लिए तत्पर होगा. वीरता का यह रूप राजसी होगा. दानशीलता के संदर्भ में यदि व्यक्ति दूसरों से दान अधिक देना चाहता है तो उसकी यह प्रवृत्ति " राजसी " ही होगी. धर्मवीर और कर्मवीर दोनों में ही यह नियम लागू होता है. अतः इन गुणों को हम सत्वगुण प्रधान उत्साह को

उद्बुद्ध करने वाले नहीं माने जा सकते. इन गुणों को निम्नलिखित कारणों से आश्रय के गुण ही माना जायेगा.

क॥ सहृदय का तादात्म्य सीधा उत्साही के साथ हुआ करता है.
ख॥ भाव होने के नाते उत्साह का मूल आधार कर्म होता है.

युद्धवीर नायक अपने प्रतिनायक को जितना तो चाहता है पर उसका उद्देश्य केवल उसे पराजित करना ही नहीं होता अपितु उसके सम्मुख होता है- " कर्म " साथ ही साथ यह भी मानना पड़ेगा कि वीर रस में प्रतिनायक एवं कर्म दोनों आलंबन होते हैं. यह आवश्यक है कि महत्कर्म स्वतः हो विस्मय की सृष्टि करता है, किन्तु उसमें प्रदर्शित उत्साह सहृदय में उत्साह ही उत्पन्न करता है विस्मय नहीं. यदि कोई महत्कर्म चमत्कार प्रदर्शन के लिए होता है तो वहाँ विस्मय होना स्वाभाविक है किन्तु जहाँ ऐसा न होकर कोई विशिष्ट लौकिक कार्य की सिद्धि अभिप्रेत होती है वहाँ उत्साह ही प्रधान होता है. सहृदय का तादात्म्य आश्रय से होता है अतः आश्रय में जो स्थायी भाव होगा वह सहृदय में अवश्य प्रकट होगा. वीर रस के आश्रय को कभी अपने कर्म के प्रति विस्मय नहीं होता, उत्साह ही होता है. आचार्य शुक्ल ने भी प्रतिनायक या विजेतव्य को आलंबन न कहकर असाधारण कर्म को आलंबन माना है, यह सोचकर कि नायक का कार्य केवल विजेतव्य को जीतना ही नहीं, अपितु महत्कर्म का सम्पादन होता है.

विभाव के भेद

विभाव का अर्थ है जो भाव के विभावन का आधार-भूत कारण हो. यह विभावन " उत्पादन के रूप में ही नहीं," विशेषीकरण ॥विशेष भावन॥ के रूप में भी अपनी व्युत्पत्ति चरितार्थ करता है. इसी आधार पर यह आलम्बन विभाव एवं उद्दीपन विभाव इन दो वर्गों में विभाजित हो जाता है ।

के सौ-सौ हाथी का बल है,
जिसके पागलपन में, बलि-
पथ में भी मधुर ज्वार आता है,
अपने पागलपन में बेदी पर
शिर जो उतार आता है । [70]

यहाँ गांधी आलम्बन एवं उसके कर्तव्य निष्टा उद्दीपन है.

उद्दीपन विभाव

उद्दीपन विभाव वस्तुतः आलम्बन विभाव का ही एक पूरक तत्व है. आलम्बन विभाव जिस अनुभूति की उत्पत्ति का आधार भूत कारण होता है, उसी का विशेषीकरण किंवा उद्दीपन, उद्दीपन विभाव है. [71] इसके अन्तर्गत आलम्बन की चेष्टाएँ तथा तत्कालीन वातावरण एवं परिवेश आते हैं. इससे मन में उत्पन्न हुआ भाव और अधिक उद्दीप्त होता है. विभिन्न रसों के उद्दीपन विभाव में देशकाल संबंधी चर्चा की गयी है जिससे यह स्पष्ट होता है कि देशकाल की जिन विशेषताओं के कारण भाव उद्दीप्त होते हैं वे उद्दीपन विभाव है.

युद्ध वर्णन के प्रसंग में दुष्ट के वध द्वारा आश्रय असत्य, अत्याचार का समूल नाश करके, दानवीर के प्रसंग में भिक्षुकों को दान देकर, दयावीर के प्रसंग में त्रस्त की सहायता करके और धर्मवीर के प्रसंग में शास्त्र विहित कर्मों का अनुष्टान करके क्रमशः सद्वृत्ति,दान, दया और धर्माचरण जैसे लोक कल्याणकारी तत्वों की स्थापना का उद्देश्य पूरा करता है. इन प्रसंगों में दुष्टों की क्रूरता,भिक्षकों की दरिद्रता, त्रस्त का दुःख और शास्त्रों का आदेश उद्दीपन विभाव है. यथा-

" रहते हुए तुम सा सहायक प्रण हुआ पूरा नहीं,
इससे मुझे है जान पड़ता भाग्य-बल ही सब कहीं ।
जल कर अनल में दूसरा प्रण पालता हूँ मैं अभी
अच्युत युधिष्ठिर आदि का अब भार है तुम पर सभी । " {गुप्त} [72]

आलम्बन विभाव

सामाजिक के भीतर किसी संस्कारात्मक भाव या अनुभूति के उत्पादन के आधार तत्व का नाम आलम्बन विभाव है. " जिन पर अवलम्बित होकर भाव उत्पन्न होते हैं वे आलम्बन विभाव हैं. [67] जिस व्यक्ति के प्रति मनुष्य के मन में भाव उत्पन्न हो अथवा जो वस्तु या व्यक्ति किसी के मन में सुषुप्तावस्था में रहने वाले किसी भाव को जगाने का कारण हो, वह आलंबन विभाव कहलाता है. विभिन्न रसों के आलम्बन भेदों में प्राय: विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों की विशेषताओं की चर्चा की गई हैं जिससे यह स्पष्ट होता है कि आचार्यों के अनुसार जिस व्यक्ति के कारण भावोद्बोधन होता है, वह आलम्बन है.

" भाव प्रकाश " में वीर रस का आलम्बन त्यागी, सत्यवीर, शूरवीर और विक्रमी पुरुष को माना गया है. [68] यथा-

" रण-मत लगे बढ़ने आगे,
सिर काट-काट करवालों से,
संगर की मही लगी पटने
क्षण क्षण अरिकंठ कपालों से ।
बन गये वीर मतवाले थे
आगे वे बढ़ते चले गये
राणा प्रताप की जय करते
तोपों तक चढ़ते चले गये ।"[69]

यहाँ अकबर की सेना आलम्बन एवं राणा प्रताप की सेना आश्रय है.

कर्मवीर के रूप में गांधी प्रमुख हैं यथा-

" जिसके पागलपन में एक-
प्रणयिनी बंदन की हलचल है,
जिसके पागलपन में, प्रतिमा

इसमें अर्जुन आलम्बन, प्रण का पूरा न होना उद्दीपन है.

अनुभाव

विभावना का व्यापार केवल विभाव को ही लेकर नहीं चलता, उसमें अनुभाव भी शामिल है. आलम्बन और उद्दीपन विभाव रूप कारण के जो कार्य कहे जाते हैं, वे काव्य नाटक में अनुभाव शब्द द्वारा विख्यात है. आचार्य भरतमुनि ने वाणी तथा अंग सचालनादि द्वारा व्यक्त अभिनय रूप भावानाभिव्यंजन को अनुभाव कहा है. [73] आलम्बन और उद्दीपन विभाव जिस स्थायी भाव को आश्रय में क्रमशः उद्बुद्ध और उद्दीप्त करते हैं, उसका बोध केवल आश्रय के व्यापारों द्वारा ही होता है. [74] अर्थात् कारण समूह के पीछे जिनका भाव अर्थात् जिनकी उत्पत्ति होती है, वे अनुभाव हैं. विभाव समूहों के अन्तर्गत भाव का जो अनुभव कराते हैं वे भी अनुभाव हैं. अनुभावों की संख्या निश्चित नहीं कही जा सकती तथापि इनके कायिक, मानसिक, आहार्य, वाचिक एवं सात्विक भेद किये गये है. [75] हाउस मैंने ने अनुभाव के प्रभाव से प्रभावित होकर कहा था कि " मुझे तो कविता सचमुच अन्तः करण की अपेक्षा शारीरिक अधिक प्रतीत होती है. [76] वूचर ने अनुभावों को कार्य के अन्तर्गत माना है, क्योंकि सब कुछ मानसिक जीवन को प्रकाशित करते हैं, विवेकी व्यक्ति के व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करते हैं, [77] अर्थात् मानसिक कार्यों के उद्बोधक कार्य ही अनुभाव हैं. मैकडूगल के अनुसार प्रत्येक प्रकार की भावानुभूति में किसी न किसी प्रकार का शारीरिक परिवर्तन होता हैं जिसे " संवेग " की अभिव्यंजना " का नाम दिया जाता है. [78] उक्त इसी अभिव्यंजना को " अनुभाव " कहा जाय तो अतियुक्ति न होगी.

उपर्युक्त परिभाषा के आधार पर हम कह सकते हैं कि काव्य में वर्णित दर्शित या कल्पित उन प्रति क्रियात्मक चेष्टाओं का नाम अनुभाव है, जो सामाजिक के भाव को सामाजिक के लिए ही बाहर‌ काव्य में ‌प्रतीति योग्य बनाती है. अर्थात् भाव का प्रदर्शन और प्रत्ययन करने वाली क्रिया को काव्य में अनुभाव कहते हैं.

अनुभाव को मुख्यतः चार भागों में बाँटा गया है-

1) आहार्य- वेशभूषा से सम्बन्धित अनुभाव
2) वाचिक- वाणी एवं शब्दों के माध्यम से होने वाली चेष्टायें.
3) आंगिक- शरीर के माध्यम से होने वाली चेष्टायें
4) सात्विक- सत्वोद्रेक (आश्रय, स्वेद, कंप आदि) के रूप में प्रकट होने वाले अनुभाव.

वीर रस में भी आहार्य, वाचिक, कायिक एवं सात्विक अनुभावों की योजना मिलती है. वीर रस में कायिक अनुभाव स्मित, कटाक्ष, भुजक्षेप (हाथ पैर पटकना) हुंकार भरना, तनुमोदन (प्रसन्नता से शरीर बढ़ाना) आदि है. [79] वीर रस में वाचिक अनुभावों का सबसे अधिक महत्व है. काव्य का सारा चमत्कार उक्तियों में रहता है. इन उक्तियों का कोई प्रकार नहीं बतलाया जा सकता और न उनकी गणना ही की जा सकती है. वे नानारूपधारा अनंत है. युद्धवीर में कभी ये प्रतिज्ञा के रूप में सामने आते है, कभी चुनौती और कभी आत्म प्रशंसा के रूप में. कर्मवीर में भी ये प्रतिज्ञा और चुनौती के रूप में आते हैं.

आहार्य अनुभाव के सम्बन्ध में आचार्यों का कहना है कि आश्रय जब किसी भाव से प्रेरित होकर वेश विन्यास करता है तब आहार्य अनुभाव प्रकट होते हैं. वीर रस में तरकस कसना, तलवार चमकाना, कवच धारण करना एवं दानवीर में तिलक, मुद्रा लगाकर, कुश धारण कर दान के लिए प्रस्तुत होना आदि आहार्य अनुभाव हैं .

रस शास्त्र के सर्वाधिक महत्वपूर्ण सात्विक अनुभाव भी वीर रस में अपनी सत्ता बनाये हुए हैं. इसमें कुछ संचारी व्यक्त नहीं होते पर उनके अनुभाव व्यक्त होते हैं और वे अनुभाव स्थायी भाव के अनुभाव मान लिए जाते हैं. सात्विक भाव ऐसे हैं कि वे सुखात्मक और दुःखात्मक दोनों वर्गों के भावों से उत्पन्न होते हैं. " स्वेद " ऐसा ही है. भय से और कार्य की अधिकता

दोनों से पसीना छूटता है. वीर रस में कार्य की अधिकता से पसीना निकलता है तो इसे श्रम का अनुभाव कह सकते हैं जो प्रवृत्तिमूलक है. " रोमांच " भी हर्ष युक्त पुलक व्यक्त करता है. " स्वरसाद " तो स्पष्ट उत्साह जनित जाना जा सकता है. उत्साह के कारण बोली सामान्य से कुछ ऊँची हो जाती है और मुँह से कुछ का कुछ निकल पड़ता है. वीर रस में यह भावोत्कर्ष का सूचक होता है. " कंप " भी वीर रस में प्रकट होता है. उत्साह से भूमि पर पैर सीधे नहीं पड़ते. " वैवर्ण्य " को लोग सामान्यतया चेहरे का पीला पड़ना मानने लगे हैं पर इसे चेहरे का रंग बदलना ही मानना चाहिए. जब यह अपकर्ष की ओर ले जायेगा तो पीला पड़ना होगा और जब उत्कर्ष की ओर प्रवृत्ति होगी तो चेहरा लाल होगा. वीर रस में उत्कर्ष की ही स्थिति होती है. " अश्रु " तो श्रम और हर्ष दोनों से ही वीर रस में प्रकट होते हैं. वे नेत्रों में प्रायः चुकचुका आते हैं बहते बहुत कम हैं ।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भावों को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाने वाले अनुभाव ही हैं- यथा --

" पहले सन-सन सुन पड़ती थी फिर सुन पड़ती थी आह आह.
फिर उड़ते प्राण पखेरू थे मिलती थी मानों खुली राह ।।
भाले रवि किरणों के समान सोख लेते थे जीवन को
अरि के कवचों को भेद-भेद करते थे क्षत विक्षत तन को ।।
चर कर तिरछे-तिरछे बरछे थे दिखा अनोखी काट रहे ।
लाख जीभों से महाकाल, मानो शोणित चाट रहे ।" [80]

यहाँ अशोक एवं उसकी सेना आश्रय, कलिंग सेना आलम्बन, शत्रु सेना (कलिंग सेना) की तलवारों की सन-सन की आवाज, उनकी आहें, उनके प्राण पखेरू उड़ना, लाखों जीभों से महाकाल का लहू चटना आदि उद्दीपन विभाव, रवि किरणों के समान तेज भालों द्वारा कलिंग के सैनिकों के

के कवच भेदन, अनेक शरीर को क्षत विक्षत का प्रयास, बरछे द्वारा शत्रु सेना के अंगों का काटना आदि अनुभाव हैं.

संचारी भाव

मानव जीवन में भाव का दूसरा वर्ग वह है जिसके संस्कार उतने प्ररूढ़ नहीं होते जितने स्थायीभाव के. यह वर्गीकरण संचारी भावों का है. संचारी भाव के लिए रस के सैद्धान्तिक विवेचन में " व्यभिचारी भाव " का प्रयोग भी पर्याय रूप में मिलता है. इतना ही नहीं प्रारंभिक आचार्यों ने तो " व्यभिचारी " शब्द का प्रयोग प्रमुख रूप में किया है. संचारी भाव का सामान्य स्वरूप यही है कि वह अपने जातीय स्थायी भाव के भीतर संचरण करे और इस संचारण में भी अनैकान्तिक या व्यभिचरित (अनियत) होने के कारण व्यभिचारी होने की भी उपाधि धारण करे. अनियतत्ता इस रूप में कि एक ही संचारी अनेक रूप परिवर्तन के साथ अनेक स्थायी भावों के भीतर संचरण करे. व्यभिचारी नाम की अन्वर्थता कुछ आचार्य अनैकान्तिकता के रूप में न लेकर स्थायी के अभिमुख विशेषत: संचरण के रूप में लेते हैं. [81]

संचरणशील अर्थात् अस्थिर मनोविकारों या चित्तवृत्तियों को संचारी भाव कहते हैं. [82] ये भाव रस के उपयोगी होकर जलतरंग की भाँति उसमें संचरण करते हैं. इससे ही ये संचारी भाव कहे जाते हैं. विविध प्रकार से अभिमुख- अनुकूल होकर चलने के कारण ये व्यभिचारी भाव कहे जाते हैं. ये स्थायी भाव के सहायक हैं. रस के समान ही संचारी भाव भी व्यंजित या ध्वनित होते हैं. ये संख्या में तैंतीस हैं. [83]

संचारी भावों के स्वरूप को स्पष्ट करने में सर्वाधिक सफलता आचार्य अभिनव गुप्त को मिली है. उनके अनुसार संचारी भाव समुद्र तरंग की भाँति स्थायी भावों से उद्भुत होते हैं और उन्हीं में विलीन हो जाते हैं, स्थायी भावों से पृथक या स्वतंत्र रूप में उनकी कोई सत्ता नहीं है. [84] आधुनिक युग के अनेक आचार्यों ने भी इसपर पुनर्विचार करते हुए इनकी नयी व्याख्या प्रस्तुत

करने का प्रयास किया है. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार " जो भाव ऐसे हैं जिन्हें किसी भी पात्र को प्रकट करते देख या सुनकर दर्शक या श्रोता भी उन्हीं भावों का सा अनुभव कर सकते हैं वे तो प्रधान भावों में रखे गये हैं, शेष भाव या मन के वेग संचारियों में डाले गये हैं. [85]

मनोवैज्ञानिकों ने संचारी भावों को विभिन्न रूप में परिभाषित करने का प्रयास किया है. प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक मैक्डूगल ने इन भावों को स्पष्ट करते हुए कहा है- व्युत्पन्न भावों में से प्रत्येक भाव या अनुभूति की एक ऐसी मनोदशा का सूचक है जो किसी विशिष्ट सहज प्रवृत्ति या मानसिक प्रवृत्ति के प्रत्यक्ष उद्बोधन या प्रभाव से संबंधित नहीं होती वरन् वह किसी स्थिति विशेष के अंतर्गत परिचालित चेष्टात्मक प्रवृत्तियों के प्रभाव से उद्दीप्त होती है. ये भाव उसी स्थिति में उद्बुद्ध होते हैं, जब हमारी विभिन्न प्रकृत चेष्टात्मक या क्रियात्मक प्रवृत्तियाँ किसी विशिष्ट मानसिक स्थिति के प्रभाव से उद्वेलित (सक्रिय) होती है. ये भाव किसी विशिष्ट चेष्टात्मक मनःस्थिति से संबंधित नहीं होते अपितु किसी भी मनःस्थिति में अनुकूल (उपयुक्त) परिस्थितियों के प्रभाव से उद्दीप्त होकर हमारी सम्पूर्ण चेतना को अपने रंग में रंग सकते हैं. इन व्युत्पन्न भावों के अन्तर्गत आह्लाद, विषाद, नैराश्य, आशा, विश्वास, चिन्ता, खेद, पश्चाताप, ग्लानि एवं वेदना का उल्लेख किया गया है. [86]

नाट्य शास्त्र में वीर रस के संचारी भाव असंमोह, उत्साह, आवेग, हर्ष, मति, उग्रत्व, उन्माद, निर्वेद, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, रोमांच, प्रतिबोध, क्रोध, असूया, धृति, गर्व, वितर्क आदि माने गये हैं. [87] ये उक्त सभी संचारी अनुकूल परिस्थिति में इसके अभिन्न अंग बन सकते हैं. वीर रस का आलम्बन है महत्कर्म. अतः आश्रय में इसके सम्पन्न करने की भावना (अर्थात् उत्साह) को प्रवृत्तिमूलक संचारी जैसे हर्ष, आवेग, चपलता आदि तो पुष्ट करेंगे ही साथ में चिन्ता, तर्क, शंका आदि विकल्प मूलक संचारी भी अनुकूल परिस्थिति पाकर प्रवृत्ति मूलक हो जायेंगे और इसे पुष्ट करेंगे.

उदाहरणार्थ युद्ध में जाने से पूर्व प्रत्येक योद्धा के मन में अनिष्ट का विचार आना आवश्यक है पर वह अपने कर्म को अधिक महत्व देता है और संचारी तिरोभूत होकर उसके उत्साह को अधिक दृढ़ कर देता है, दूसरी ओर निर्वेद जब व्यक्ति को कर्मक्षेत्र से हटाकर वैराग्य की ओर ले जाता है, वहाँ यह भाव कि संसार क्षणभंगुर है, लक्ष्मी चंचल है अपना कोई नहीं कर्म में तत्पर होने के भाव को अधिक दृढ़ कर देते हैं, इस प्रकार निवृत्ति मूलक संचारी भी विशिष्ट परिस्थिति में प्रवृत्ति मूलक हो जाते हैं.

निष्कर्ष

व्यक्ति और समाज का घनिष्ठ संबंध है पर इसमें किसका महत्व अधिक है यह विचारणीय है. धर्मशास्त्रकारों ने समाज को महत्व दिया और इसी कारण व्यक्ति के लिए अनेक आचारों की स्थापना की है जिससे समाज की समृद्धि एवं संपुष्टि हो सके. रसवादी आचार्यों ने, जो श्रृंगार को रसराज मानते हैं, व्यक्ति के महत्व को प्रधानता दी है, श्रृंगार की उत्पत्ति का मूल कारण व्यक्ति का अहंकार है. वीर रस की स्थिति इन दोनों अवस्थाओं से अलग है. इसमें न तो व्यक्ति के लिए धर्म की आदेश परतंत्रता का आभास मिलता है और न ही श्रृंगार रस की भांति स्व का बोल बाला है. यह तो एक ऐसा व्यापार है जिससे व्यक्ति को, स्वयं को तथा समाज को सुख प्राप्त होता है. वीर रस आलम्बन रूप में आये अनेक कल्याणकारी व्यक्ति और समाज दोनों को एक सूत्र में बद्ध देता है. इन कार्यों के कर्ता को जहाँ आत्मिक आनन्द की प्राप्ति होती है, वहाँ समाज को सुख और समृद्धि प्राप्त होती है. समाज और व्यक्ति दोनों की ही दृष्टि से ऐसी विशेषता अन्य किसी रस में प्राप्त नहीं है.

वीर रस का स्थायी भाव उत्साह के बिना मानव जीवन का कोई कार्य सुचारु रूप से नहीं संपादित हो सकता. विश्व साहित्य में वीरता एवं उत्साह का बहुत गुणगान हुआ है. भरतमुनि द्वारा प्रतिपादित उत्साह

को स्थायी भाव (उत्साह) में हम स्पष्ट कर चुके हैं. सचमुच जीवन के कार्यकलाप तथा महान कार्यों की पूर्ति उत्साह के बिना असंभव है. इसलिए अन्य रसों की अपेक्षा वीर रस का जीवन और जगत में अधिक महत्व है. अपनी व्यावहारिक उपयोगिता के कारण वीर रस अन्य रसों से श्रेष्ठतर है.

जब कोई व्यक्ति निराशा के गहन अंधकार में फंस जाता है और निरुत्साहित हो जाता है, मन में कायरता को आश्रय देता है, अन्याय एवं जीवन की असफलताओं के आगे आत्म-समर्पण करता है तब वीर रस की अमृत संजीवनी के इंजैक्शनों से ही उसके जीवन का संचार होता है. संसार का इतिहास इस प्रकार के अनेक उदाहरणों से परिपूर्ण है. भागवतगीता का मूलाधार वीर रस ही है ।

मनुष्य का जीवन ही कर्म प्रधान है और वीर रस भी कर्म सौन्दर्य का प्रतिपादन करता है. यह हृदय का उन्नयन करता है तथा सहृदय के मन में कर्म सम्पादन में उत्साह की भावना जाग्रत करता है. आज वीर रस केवल युद्धवीर, दानवीर, दयावीर आदि तक ही सीमित नहीं रह गया है. इसने संकीर्णता की इन श्रृंखलाओं को तोड़कर अपना स्वरूप अत्यधिक व्यापक बना लिया है. इसके अंतर्गत विश्व बन्धुत्व, मानवता, अन्तर्राष्ट्रीयता, विश्व शान्ति से सम्बन्धित सभी रचनाएँ समाविष्ट हो सकती हैं. इसकी इस व्यापकता ने उसके महत्व को और अधिक बढ़ा दिया है.

वीर भावना मानव-मात्र की आदि और जन्मजात भावना है । संसार में जब तक वीरों का समादर रहेगा और वीरत्व भाव में निष्ठा रहेगी, तब तक काव्य रचनाओं में वीरता के गीत अवश्य गाये जायेंगे ।

<u>संदर्भ सूची</u>

1. ऋग्वेद 1 / 114 / 2, 5/20/4

2. शूरो वीरश्च विक्रान्तों जेता जिष्णुंश्चः ।
सांयुगी ने रणे साधुः शस्त्र स्त्रिषा ।।
अमर कोश- क्षत्रिय वर्ग, पृ. 43 पंक्ति 1621-22.

3. वीर कर्म्मणि समर्थ - ऋग्वेद, 4/ 23 / 21 सायण भाष्य

4. वीराय यज्ञादि कर्म्मसु दक्षाय । ऋग्वेद, 6/ 23 / 3 सायण भाष्य.

5. इदाहि वो विधते रत्नमस्तीदा । वीरायदाशुष उषास ।।
ऋग्वेद 6 / 54 /4

6. मार्कण्डेय पुराण 35/21

7. रामायण 4/52/14

8. महाभारत 1 / 67 / 103.

9. (क) बहादुर, बलवान,कुशल, निपुण, कर्मठ, योद्धा, सिपाही,विष्णु, जिन, काली मिर्च, कांजी, खस,उशीर, आलू बुखारा, कनेर, लताकरंज, अर्जुन वृक्ष, काकोली, सिन्दूर, शालिपर्णी, लोहा, नरसल, कुश, तरोई, ऋषभ तथा औषध -
अभिनव पर्यायवाची कोश - सत्यपाल गुप्त,श्याम कपूर पृ. 322

(ख) साहसी, बलवान, शूर, बहादुर, योद्धा, सैनिक या सिपाही, पुत्र या लड़का, पति या खसम, भाई, वह जिस काम में और लोगों से बहुत बढ़कर हो, साहित्य में एक रस जिसमें वीरता और उत्साह आदि की परिपुष्टि होती है. तांत्रिकों के अनुसार साधना के तीन भावों में एक भाव और वीर कर्म-
संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर : नागरी प्रचारणी सभा काशी, रामचन्द्र वर्मा द्वारा मूल संपादित, पृ. 986.

10. हिन्दी साहित्य कोश, भाग-1 (परिभाषित शब्दावली), धीरेन्द्र वर्मा, ब्रजेश्वर और धर्मवीर भारती : द्वितीय संस्करण, वसंत पंचमी, संवत 2010, पृ. 79 से उद्धृत.

11. हिन्दी साहित्य कोश भाग-1 [पारिभाषिक शब्दावली], धीरेन्द्र वर्मा : ब्रजेश्वर और धर्मवीर भारती : द्वितीय संस्करण, पृ. 791.
12. जगन्नाथ प्रसाद " भानु " : छन्द प्रभाकर : दशम परिवर्द्धित संस्करण शीर्षक अश्वावतारी [31 मात्राओं के छंद भेद] पृ. 72.
13. हिन्दी साहित्य कोश भाग-1 धीरेन्द्र वर्मा, पृ. 791.
14. सरदार पूर्ण सिंह : निबंध निचय [सच्ची वीरता निबन्ध] पृ. 152.
15. दानवीरं, धर्मवीरं, युद्धवीर तथैवच: ।
    रस वीर मपि प्राह ब्रह्मा त्रिविध मेवहि ।

    नाट्य शास्त्र : अध्याय 6: पृ. 331.
16 वीर : प्रताप विनयाध्यवसाय सत्वा मोहा विषादनय विस्मय विक्रमाद्यै । उत्साह भू: स च दया, रण, दान, योगोत्त्रेधा किलात्र मति गर्व, धृति प्रहर्षा ।

    धनंजय : दशरूपक : 4/ 72.
17. पं० विश्वनाथ , साहित्य दर्पण, 3/234.
18. पं० [मि] जगन्नाथ, रस गंगाधर, 63,68
19. अविकत्थन: क्षमावानतिगम्भीरो महासत्व: ।
    स्थेयान् निगूढ़मानो धीरोदात्तो दृढव्रत: कथित: ।।

    साहित्य दर्पण, तृतीय परिच्छेद, श्लोक 33.
20. क्षमा शत्रौ च मित्रे च यतीनामेव भूषणम् ।
    अपराधिषु सत्वेषु नृपाणां सैवदूषणम् ।।

    हितोपदेश: सुहृदभेद, श्लोक 180.
21 वियोगी हरि, वीर सतसई, पृ. 45
22. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : आचार्य शुक्ल के प्रतिनिधि निबन्ध : संपादक-सुधाकर पाण्डेय, पृ. 15-16.
23. वही, पृ. 15
24. विपिन बिहारी त्रिवेदी, काव्य विवेचन, संस्करण 1961, पृ. 55-56.

25. अविकत्थनः क्षमावानतिगम्भीरो महासत्वः ।
स्थेयान् निगूढ़मानो धीरोदात्तो दृढ़व्रतः कथितः ।।
साहित्य दर्पण, तृतीय परिच्छेद, श्लोक 33

26. ऋग्वेद में रस का प्रयोग-
जन्में रसस्य वावृधे- ऋग्वेद 1-37-5
स्वाद रसो मधुपेयो वराय-ऋग्वेद- 6-44-21.

27. उपनिषदों में रस का प्रयोग
प्राणों का अंगाना रस-बृहदारण्यकोपिद

28. डा० गणपतिचन्द्र गुप्त, रस सिद्धान्त पुनर्विवेचन, पृ. 14

29. भरतमुनि : नाट्य शास्त्र, पृ. 71

30. सत्वोद्रेकादखण्डस्व प्रकाशानन्दचिन्मय :
वेद्यान्तर स्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वाद सहोदरः
लोकोत्तर चमत्कार प्राणः कैश्चित प्रमातृभिः
स्वाकारवदभिन्नत्वे नायमास्वाद्यये रसः ।
साहित्य दर्पण, तृतीय परिच्छेद, श्लोक-21।

31. " मैं इस दशा को हृदय की मुक्तदशा मानता हूँ- ऐसी मुक्त दशा जिसमें व्यक्ति बद्ध घेरे से छूटकर वह अपनी स्वच्छंद भावात्मिका क्रिया में तत्पर रहता है.
रामचन्द्र शुक्ल, चिंतामणि (काव्य में अभिव्यंजनावाद)
प्रथम संस्करण, पृ. 205

32. साहित्य संदेश : संपादक महेन्द्र, भाग-25, अंक-7-8 जनवरी-फरवरी 1964, पृ. 263.

33. श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानकाः
वीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ।
भरतमुनि : नाट्य शास्त्र, 6-15.

34. डा० भगीरथ मिश्र, काव्य मनीषा पृ. 310

35. श्रृंगार वीरकरुणाद्भुतरौद्रतरौद्र हास्य की भत्सवत्सल भयानकशान्तनाम्नः

आम्रंतिषु : दश रसान् सुधियो, वयं तु श्रृंगारमेव रसनात्रसमामनाम: ।।
डा० राघवन भोजराज संग्रह प्रकाशन- वाल्यूम 1, पार्ट 2,
पृ. 462-470.

36. डा० शंकरदेव अवतरे, काव्यांग-प्रक्रिया, संस्करण 1977, पृ.31.
37. " किं भवन्तीति भावा: " नाट्य शास्त्र 104
38. " किं वा भावयन्तीति भावा: " वही
39. " कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते " नाट्य शास्त्र 72
40. डा० नगेन्द्र, रस सिद्धान्त, पृ. 218
41. दशरूपक 4 /4
42. साहित्य दर्पण 3/ 260-261
43. काव्य प्रकाश 4-35
44. डा० नगेन्द्र, रस सिद्धान्त, पृ. 219.
45. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, रस मीमांसा, पृ. 168
46. Emotion is a moved or stirred up state....
of feeling - Psychology, Wood worth, Page 308.
47. An emotion is an acute disturbance of the individual
psychological in origin....
- P.T. Young: Emotion in man and Animal : page 51.
48. काव्यानुशीलन, पृ. 475
49. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, रस मीमांसा, पृ. 205.
50. The human mind has certain innate or inherited tendencies which are the arrential springs or motive powers of all thought and action, whether individual or collective and are the bases from which the character and with of individuals and of nations are gradually developed under the guidance of the intellectual faculties.
- William Mc Dugall : An Introduction to Social Psychology : page 17.

51. डॉ० गुलाबराय, सिद्धान्त और अध्ययन, छठा संस्करण-1965, पृ.171

52. अथवीरो नामोत्तम प्रकृतिरुत्साहात्मकः । संचासमोहाध्यवसायनय विनय बल पराक्रम शक्ति प्रतापप्रभावादि भिर्विभावैरुत्पद्यते तस्यस्थैय धैर्य शौर्य त्याग वैशारद्यादि भिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्य भावाश्चास्य धृति मति गति गर्वाने गौग्यामर्ष स्मृति रोमांचादयः ।
- नाट्य शास्त्र : गायकवाड़ ओरियण्टल सरीज बड़ौदा, अध्याय- 6 पृ. 324.

53. परिपूर्ण उत्साह : सर्वेन्द्रियाणा प्रहर्षका वीर :
हिन्दी साहित्य कोश, भाग-1, द्वितीय संस्करण, पृ. 796

54. कार्यारम्भेषु संरम्भः स्थेयानुत्साह उच्यते : 3/ 185.

55. विविधधर्मादिलक्षणमर्थनीयमर्थ विशेषमभिसन्धाय अविषादित्वाद अविस्मयाद असंमोहाध्यवसायो निश्चयः स चोत्साहयतीत्युत्साहः
- अभिनव भारती : भाग-1 पृ. 325.

56. उत्तमानां प्रकृतिः स्वभावो यत उत्साहोअतो वीरसोअपि यदि वा काव्ये नाट्ये च प्रयुज्यमान उत्तमप्रकृति हेतुर्यस्य ।
उत्तमवर्गानां हि सर्वत्रोत्साह आस्वाद्यो भवति. तत्र सर्वोजन उत्साह-वानेय किन्त्वविषयः - नाट्यशास्त्र, भाग-1 पृ. 324.

57. न तस्य वीरेअन्तभविः कर्तुमुक्तः, तस्याभिमानमयत्वेन व्यवस्थापनात
आनन्दवर्द्धन : ध्व० पृ. 1/77

58. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल- चिन्तामणि, पृ. 10-11

59. डा० भगीरथ मिश्र, काव्य मनीषा, पृष्ठ.335.

60. विभाव्यन्ते आस्वादांकुर-प्रादुर्भावयोग्याः क्रियन्ते सामाजिकरत्यादि भावाः एभिः इति विभावा उच्चयन्ते ‖ साहित्य दर्पण‖
उद्धृत : काव्यादर्पण , रामदहित मिश्र, पंचम संस्करण,-1970,पृ.53.

61. धनंजय दशरूपक, अध्याय 4/ 2

62. पं० जगन्नाथ : रसगंगाधर, प्रथम आनन : पृ. 134

63. यत्स्यादनुचितं वस्तु नायकस्य रसस्यवा ।
विरुद्धं तत्परित्याज्यमन्यथां वा प्रकल्पयेत् ।।
साहित्य दर्पण, उद्धृत काव्यदर्पण, रामदहिन मिश्र, पृ. 54

64. The emotional qualities are more difficult to describe than the sensory qualities. In both cares we can only indicate the quality. We experience by pointing to an object or situation...
- An outline of psychology : page 135.

65. The reveral emotions are distunguished, in practice by stating the external situation in which each occure and the type of vert response demanded.
- Wood Worth : Psychology : page 344.

66. अथवीरो नामोत्तम प्रकृतिरुत्साहात्मक :
स च संमोहाव्यवसाय नय विनय बल पराक्रम शक्ति प्रताप प्रभावादि भिर्विभावैरुत्पद्यते - नाट्य शास्त्र, अध्याय-7 पृ. 349-347
67. रामदहिन मिश्र, काव्य दर्पण- पृ. 86
68. भाव प्रकाश : 5/6 [रस सिद्धान्त का स्वरूप विश्लेषण] पृ.20
69. श्यामनारायण पाण्डेय, हल्दी घाटी, पृ. 70
70. माखनलाल चतुर्वेदी: माता पृ. 44
71 रामदहिन मिश्र, काव्यदर्पण, पृ. 46
72. वही, पृ. 195
73. अथानुभावा इति कस्मादुच्यते । मदमयनुभावयति नानार्थाभिनिष्पन्नो वागंसत्वैः कृतोभिनय इति, भरतमुनि, नाट्य शास्त्र 7/5
74. प्राणि च कार्यतया तान्यभावशब्देन ।
अनुपश्चादभाव उत्पत्तियेषाम् ।
अनुभावयन्तीति वा वयुत्पते : ।।

पं० जगन्नाथ, रस गंगाधर, पृ. 33

75. हिन्दी साहित्य कोश, भाग-1 पृ. 33

76. Poetry inded seems to me more physical than intellectual,

: Home Man : The Name ~~of the~~ & nature of Poetry.

उद्धृत काव्य दर्पण, रामदहिन मिश्र, पृ. 55

77. Every thing that expresses the mental life, that reveals a rational personality, will full within this large sense of action. Same page no. ~~5/6~~. 56.

78. That each kind of emotional experience is normally accompanied by dodily changes which are called the expressions of the emotion.

- Willian Mcdongll : An outline of Psychology : p.317.

79. स्मितं गीतं कटाक्षश्च भ्रुक्षेपश्च हुंकृतिः ।
तनुमोटन जृम्भादि श्चानुभावाः प्रकीर्त्यते ।।

उद्धृत- विद्याभूषण- साहित्यकौमदी, पृ. 29

80 रामशंकर गुप्त " कमलेश " अशोक, पृ. 156

81. विशेषदाभिमुख्येन चरणाद व्यभिचारिण -

साहित्य दर्पण, 3 / 140

82. पंडित रामदहिन मिश्र - काव्यादर्पण, पंचम संस्करण 1970, पृ. 70

83. निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य या दीनता, चिन्ता, मोह, स्मृति, धृति, व्रीड़ा, चपलता, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार, स्वप्न, निबोध, अमर्ष, अवहित्था, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, त्रास, वितर्क, मरण. वही.

84. अभिनव भारती, षष्ठ अध्याय, 31/480-81.

85. काव्य दर्पण, पृ. 205
86. Mc. Dugall : An Introduction to social psychology. p. 365.
87. असम्मोहस्तथोत्साहः आवेगो हर्ष एव च ।
मतिश्चैव तथोग्रत्वं हर्ष उन्माद एक च ।
रोमाश्चः प्रतिबोधश्च क्रोधा सूये धृतिस्तथा ।
गर्वश्चैव वितर्कश्च वीरे भावा भवन्तिति ।
नाट्य शास्त्र, सप्तम अध्याय : श्लोक 111-112, पृ. 97.